उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित जैन सिद्धांतो की व्यवहारिक उपादेयता

डॉ. संगीता शुक्ला
एसोसिएट प्रोफेसर,
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग
नवयुग कन्या महाविद्यालय,
लखनऊ विश्वविद्यालय से संबद्ध, लखनऊ

जिस प्रकार समस्त उपनिषदों का सार गीता में संचित कर दिया गया है, जिस प्रकार समस्त बुद्धवाणी का सार धम्मपद में संग्रहीत कर दिया गया है, उसी प्रकार भगवान महावीर की वाणी का समग्र निस्यन्द एवं सार उत्तराध्ययन सूत्र में गुम्फित किया गया है। भगवान महावीर के विचार–विश्वास और आचार का एक भी दृष्टिकोण इस प्रकार का नही है, जो उत्तराध्ययन सूत्र में न आ गया हो। इसमें धर्म कथानक भी है, उपदेश भी है त्याग एवं वैराग्य की धाराएं भी प्रवाहित हो रही है।

उत्तराध्ययन सूत्र अर्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध एक जैन आगम–ग्रन्थ हैं। भगवान महावीर (छठी शताब्दी सामान्य संवत पूर्व) के जिन उपदेशों को उनके शिष्यों ने सूत्र ग्रन्थों के रूप में निबद्ध किया, वे ग्रन्थ 'आगम' या 'श्रुत' के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

इनमें साक्षात महावीर के शिष्यों द्वारा रचित होने के कारण अंग ग्रन्थों की प्रधानता है। इन्हें बौद्ध त्रिपिटक की तरह 'गणिपिटक' तथा ब्राह्मणों के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों की तरह 'वेद' कहा गया है। इनकी संख्या 12 नियत होने से इन्हें 'द्वादशांग' भी कहा जाता है। इस तरह अर्थरूप में ये सभी अंग ग्रन्थ महावीर प्रणीत ही हैं, परन्तु शब्द रूप में गणधर प्रणीत है।

मूल का अर्थ है बीज रूपता। उत्तराध्ययन आदि मूलसूत्रों में अंगग्रन्थों में निहित सिद्धान्त एवं आचार का बीजरूप से वर्णन किया गया है, जिनका अध्ययन करने पर अन्य सूत्र ग्रन्थों को समझना सहज हो जाता है। अतः इनका अध्ययन अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा पहले किया जाता था। ये सरल एवं नवदीक्षित साधुओं के लिए प्रारम्भिक अभ्यासावस्था में सिद्धान्त एवं आचार का ज्ञान कराने के लिये उपयोगी है। इस तरह मूलसूत्र से तात्पर्य है, जो नवदीक्षित साधुओं के लिए प्रारम्भिक अभ्यास की अवस्था में साधु जीवन के मूलभूत आचार एवं सिद्धान्त का सरल ढंग से स्पष्ट ज्ञान कराएं। यहां पर यह ध्यान रखना जरूरी है कि यह 'मूलसूत्र' का विचार अंगबाह्य ग्रन्थों की अपेक्षा से है, क्योंकि अंगप्रविष्ट सभी ग्रन्थ गणधर प्रणीत होने से मूल ग्रन्थ से ही है।

मूलरूपता एवं प्राचीनता की दृष्टि से अंगबाह्य ग्रन्थों में तीन ही मूलसूत्र है। अन्य पिण्डनियुक्ति आदि रचनाएं अपने महत्व के कारण मूलसूत्रों में गिनी जाती है।

उत्तराध्ययन में 36 अध्ययन (अध्याय) है, जिनमें सामान्य रूप से साधु के आचार एवं तत्वज्ञान का सरल एवं सुबोध शैली में वर्णन किया गया है।

रचयिता एवं रचनाकाल

उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक व्यक्ति के द्वारा किसी एक काल में लिखी गई रचना नही है, अपितु यह एक संकलन ग्रन्थ है। शुद्ध सैद्धान्तिक विषयों का प्रतिपादन करने वाले अध्ययन तथा गद्यभाग कुछ बाद के

प्रतीत होते है। शेष भाग अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। इनमें भी समय–समय पर संशोधन एवं परिवर्तन होते रहे है। आगमों के संकलन के लिए श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार होने वाली तीन वाचनाओं (सम्मेलनों) से इस बात की पुष्टि हो जाती है।

भगवान महावीर के निर्वाण (ई0पू0 527) के लगभग 160 वर्ष बाद चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में मगध में भयंकर अकाल (दुर्भिक्ष) पड़ा, जिससे बहुत से साधु भद्रबाहु के नेतृत्व में समुद्र तट की ओर चले गये। जो बाकी बचे वे स्थूलभद्र (स्वर्ग गमन वी.नि0 सं0 219) के साथ वही रहे। अकाल के दूर होने पर स्थूलभद्र के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में जैन साधुओं का एक सम्मेलन हुआ और मौखिक चले आ रहे अंग ग्रन्थों का संकलन किया गया।

बारहवां अंग दृष्टिवाद भद्रबाहु को छोड़कर किसी को याद नही था। अतः उसका बाद में संकलन नही हो सका और शनैः–शनैः वह लुप्त हो गया। इसके बाद (महावीर निर्वाण के 827 या 840 वर्ष बाद सामाान्य संवत् 300–313) आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में दूसरा सम्मेलन मथुरा में बुलाया गया। इस सम्मेलन में जिसे जो याद था उसे संकलित कर लिया गया। करीब उसी समय नागार्जुनसूरि के नेतृत्व में वलभी (सौराष्ट्र) में एक दूसरा सम्मेलन हुआ। इसके बाद दोनों नेता आपस में मिल नही सके जिससे पाठभेद बना रह गया। महावीर निर्वाण के लगभग 980–993 वर्ष पश्चात वलभी में ही देवर्धिगीण क्षमाप्रमण के नेतृत्व मे एक तीसरा सम्मेलन हुआ। इसे चौथा–सम्मेलन भी कह सकते है। इस सम्मेलन में आगमों को संकलित करके लिपिबद्ध कर दिया गया। वर्तमान मे उपलब्ध सभी आगम ग्रन्थ इसी वाचना में लिपिबद्ध किए गये थे। इससे स्पष्ट है कि अकाल आदि के पड़ने से तथा मौखिक परम्परा से चले आने के कारण स्वाभाविक है कि आगमों में समय–समय पर विस्मृति के कारण परिवर्तन और संशोधन किये गये हों तथा सम्मेलन बुलाकर उन्हें सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया गया हो।

इस तरह 5वीं शताब्दी सामान्य संवत पूर्व से लेकर 5वीं शताब्दी सामान्य संवत तक (1000 वर्ष के मध्य) उनमें अनेक संशोधन एवं परिवर्तन होते रहे जिससे जैन आगम–ग्रन्थ अपने पूर्ण मूलरूप में सुरक्षित नही रह सके। फिर उत्तराध्ययन में ऐसा न हुआ हो यह सम्भव नहीं है।

उत्तराध्ययन पर मिलने वाले टीका साहित्य में सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु की नियुक्ति मिलती है। इनका समय वि.सं. 500–600 के बीच सिद्ध होता है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि इस समय से पूर्व उत्तराध्ययन अपनी पूर्ण स्थिति में आ चुका था। दिगम्बर परम्परा में भी इसका सादर उल्लेख मिलने से स्पष्ट है कि संघभेद होने के पूर्व यह मान्यता प्राप्त कर चुका था।

इस तरह उत्तराध्ययन की प्राचीनता महावीर के निर्वाण काल तक पहुंच जाती है। परन्तु इसके विपरीत भी उल्लेख मिलते है। जैसे समवायंग सूत्र के 55वें समवाय में 55 पुण्यफलविपाक और 55 पापफलविपाक के अध्ययनों का कथन करने के उपरान्त महावीर का परिनिर्वाण बतलाया गया है। परन्तु 36 वें समवाय में जहां पर उत्तराध्ययन के अध्ययनों के नाम गिनाये है, ऐसा कोई उल्लेख नही है। इसके अतिरिक्त कल्पसूत्र में उल्लिखित पाठ से प्रतीत होता है कि भगवान ने अपने परिनिर्वाण के समय 55 पुण्यफॅलविपाक का और 55 पापफलविपाक का कथन करने के उपरान्त बिना पूछे 36 अध्ययनों का भी कथन किया था। इन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन में महावीर का अन्तिम उपदेश है।

धर्म और दर्शन का सुन्दर समन्वय इसमें भली–भांति परिलक्षित होता है।[2] इसमें ज्ञान, दर्शन और चरित तीनों का सुन्दर संगम हुआ है। उत्तराध्ययन सूत्र के लिये विपुल व्याख्यात्मक टीका साहित्य मिलता है। जिससे इसके महत्व व लोकप्रियता का पता चलता है। कुछ इस प्रकार हैं :

उत्तराध्ययन नियुक्ति

नियुक्ति यह आगमों पर सबसे पहली और प्राचीन व्याख्या मानी जाती है। नियुक्ति प्राकृत भाषा में और पद्यमयी रचना है, सूत्र में कथित अर्थ, जिसमें उपनिबद्ध हो, उसे नियुक्ति कहा गया है। नियुक्ति की उपयोगिता यह है कि संक्षिप्त और पद्यबद्ध होने के कारण यह साहित्य सुगमता के साथ कंठस्थ किया जा सकता था। नियुक्ति के प्रेणता आचार्य भद्रबाहु माने जाते है। उत्तराध्ययन नियुक्ति में 'उत्तर' और 'अध्ययन' शब्दों की व्याख्या की है। श्रुत और स्कंध को समझाया गया है।

उत्तराध्ययन भाव्य

भाव्य भी आगमों की व्याख्या है। परन्तु नियुक्ति की अपेक्षा भाव्य विस्तार में होता है। भाव्यों की भाषा प्राकृत होती है और नियुक्ति की तरह भाव्य भी पद्य में होते है। भाव्यकारों में संघदास गणि और जिनभद्र क्षमाप्रमण विशेष रूप से प्रसिद्ध है। विद्वान इनका समय विक्रम की 7वीं शती मानते है। उत्तराध्ययन भाव्य की गणना भी मूल सूत्र में है।

उत्तराध्ययन चूर्णि

नियुक्ति और भाव्य की भांति चूर्णि भी आगमों की व्याख्या है। परन्तु यह पद्य में न होकर गद्य में होती है। केवल प्राकृत में न होकर प्राकृत और संस्कृत–दोनों में होती है। चूर्णियों की भाषा सरल और सुबोध होती है। चुर्णियों का रचना समय लगभग 7वीं 8वीं शती है चूर्णिकारों में जिनदास महत्तर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका समय विक्रम की 7वीं शती माना जाता है। चूर्णिकारों में सिद्धसेन सूरी का नाम त्रलम्ब सूरी और अगस्त सेन सूरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उत्तराध्ययन चूर्णि जिनदास महत्तर की एक सुन्दर कृति है।

उत्तराध्ययन टीका

प्राकृत युग में मूल आगम नियुक्ति और भाष्यों का ग्रन्थन हुआ। चूर्णियों में प्रधानता प्राकृत की होने पर भी उसमें संस्कृत का प्रवेश हो चुका था। संस्कृत युग में प्रधानरूप से टीकाओं की रचना हुई। आगम साहित्य में चूर्णि युग के बाद में संस्कृत टीकाओं का युग आया। टीका के अर्थ में इतने शब्दों का प्रयोग होता रहा है– नियुक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, विवृत्ति, वृत्ति, विवरण, विवेचना, अवचूरि, अवचूर्णि, दीपिका, व्याख्या, पंजिका, विभाषा और छाया। संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का नाम उल्लेखनीय है। मलधारी हेमचन्द्र भी प्रसिद्ध टीकाकार है। परन्तु संस्कृत टीकाकारों में सबसे विशिष्ट स्थान आचार्य मलयगिरि का है। आचार्य शान्ति सूरी ने उत्तराध्ययन पर विस्तृत टीका लिखी है। साध्वी चन्दना के ग्रन्थ में उत्तराध्ययन सूत्र की व्याख्या अत्यन्त ही विशिष्ट है। इसमें विशेषता यह है कि एक ओर मूल है और ठीक उनके सामने उसका अनुवाद है। अनुवाद की भाषा और शैली आकर्षक एवं सुन्दर है। साध्वी समाज मे यह पहला अवसर है, कि एक साध्वी ने उत्तराध्ययन सूत्र का सुन्दर सम्पादन प्रस्तुत किया है।

इसके अतिरिक्त उत्तराध्ययन सूत्र के उपदेशात्मक, धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थ होने पर भी इसमें धार्मिक काव्य के सामान्य गुणों का अभाव नही हुआ है। जैसा कि कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है तदनुसार उत्तराध्ययन सूत्र में तत्कालीन समाज एवं संस्कृति आदि का भी पर्याप्त समावेश हुआ है। विविध प्रकार के संवादों, प्रतीकों उपमाओं, सुभाषितों आदि के प्रयोग से इसमे रोचकता आ गई है। इसलिए उत्तराध्ययन को जैन समाज में हिन्दुओं की भगवदगीता तथा बौद्धों के धम्मपद की तरह महत्वपूर्ण कृति माना जाता है। नियुक्तिकार के इस कथन से उत्तराध्ययन के महत्व और प्राचीनता दोनों का बोध होता है।[3] दिगम्बर परम्परा में इसका विशेष रूप से उल्लेख होने से तथा इसके विपुल टीका–साहित्य से इसके महत्व और प्राचीनता के साथ इसकी लोकप्रियता का भी पता चलता है।

इस लोक में 6 द्रव्यों की सत्ता स्वीकार की गई है उनके नाम इस प्रकार हैं 1. जीव (आत्मा चेतन) 2. पुदगल (रूपी अचेतन) 3. धर्म (गति का माध्यम) 4. अधर्म (स्थिति का माध्यम) 5. आकाश और 6 काल।

चैतन्य के सद्भाव और असद्भाव की दृष्टि से इन्हें जीव और अजीव (पुदगल आदि पांच द्रव्य) के भेद से दो भागों में भी विभक्त किया गया है।[4]

यह विभाजन चैतन्य नाम गुण के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा से किया गया है। इसी प्रकार अन्य गुण–विशेष के सद्भाव असद्भाव की अपेक्षा से भी ग्रन्थ में द्रव्य को रूपी–अरूपी, अस्तिकाय, अनस्तिकाय, एकत्व संख्या–विशिष्ट, बहुत्व संख्या विशिष्ट आदि प्रकार से विभाजित किया गया है। चेतन (आत्मा) जीव है। पृथिवी आदि समस्त दृश्यमान वस्तुएं पुदगल रूपी अचेतन हैं। जीवादि की गति का अप्रेरक माध्यम धर्म है। जीवादि की स्थिति का अप्रेरक माध्यम अधर्म है। सब द्रव्यों के ठहरने का आधार आकाश है और वस्तु में प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन में कारण काल है। इस तरह लोक में इन छहों दृव्यों के संयोग और वियोग से इस सृष्टि का यन्त्रवत संचालन होता रहता है। इसमें ईश्वर तत्व की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर तत्व को स्वीकार न करने के कारण धर्मादि द्रव्यों की कल्पना करनी पड़ी है। जीव अपने कर्त्तव्यों का ठीक से पालन करके परमात्मा बन सकता है और अकर्तव्य कर्मों को करके अधम। परमात्म अवस्था में जीव सब प्रकार के कर्मों से परे होकर तटस्थ हो जाता है। एकेन्द्रियादि जीवों की सत्ता कण–कण में स्वीकार की गई है और वे सर्वलोक में व्याप्त हैं।

प्राकृतिक दर्शन के अनुरूप जीवों का विभाजन पाश्चात्य दर्शन से मिलता जुलता है। भूमध्यसागरीय क्षेत्र के सबसे पहले दर्ज किए गए विचारकों में से एक थेल्स ऑफ मिलेटस (624–547 ईसा पूर्व) ब्रह्मांण्ड के निर्माण में पानी के महत्व पर जोर देता है। एम्पेडोकल्स (492–432 ईसा पूर्व) ने चार मूलभूत भौतिक तत्वों–अग्नि, पृथ्वी, वायु और जल की बात की, जो परस्पर प्रेम और घृणा से एकजुट और विभाजित होते है।[7] वनस्पति अवलोकन के अनुरूप इन चार तत्वों को सभी चीजों का 'बीज' या 'जड' कहा जाता है। अरस्तू ने पश्चिमी ''प्राकृतिक दर्शन'' (यानी, विज्ञान) की नीव रखी और सहज पीढ़ी की अवधारणा इस प्रकार है कि जानवर और पौधे पृथ्वी में और तरल में अस्तित्व में आते हैं क्योंकि पृथ्वी में पानी है, और पानी में हवा है, और सभी हवा में महत्वपूर्ण गर्मी है, ताकि एक अर्थ में, सभी चीजें आत्मा से भरी हों। इसलिए जब भी यह हवा और महत्वपूर्ण गर्मी किसी भी चीज में बंद होती है तो जीवित चीजें तेजी से बनती है। जब वे इतने बंद होते हैं कि मानो भौतिक (शारीरिक) तरल पदार्थ गरम किया जा रहा हो, वहाँ एक झागदार बुलबुला उठता है।8 इसलिए कम से कम अठारहवीं शताब्दी तक प्राचीन पश्चिमी दर्शन के प्राप्त ज्ञान के बीच अवशोषित, चार तत्वों का एम्पेडोकल्स का सिद्धान्त बाद में यूनानियों की ब्रह्मांड की मानक अवधारणा बन गया। यहाँ उन्नत दृष्टिकोण यह है कि दर्शन को मानवता की प्राकृतिक और सामाजिक जीवन समर्थन प्रणाली को ध्यान में रखना चाहिए ताकि यह समझा जा सके कि उन्हें एक स्थायी तरीके से जीवन की व्यापक और गहरी श्रेणियों को सक्षम करने के लिए कैसे समझा जा सकता है। इस प्रकार यथार्थवाद का चित्रण करने के कारण द्रव्य का स्वरूप रूप से क्षणिक न मानकर अनित्यता से अनुस्यूत नित्यता माना गया है। द्रव्य में प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन तथा उस परिवर्तन में वर्तमान एक इकाई का सामंजस्य को स्वीकार करते हुए द्रव्य का स्वरूप उत्पाद, व्यय और नित्य माना गया है। चैतन्य आदि जीव के नित्य धर्म (गुण) हैं, और मनुष्य देव आदि उसकी विभिन्न अवस्थाएं (धर्याएं) नित्यता द्रव्य का गुण (नित्य–धर्म) है और अनित्यता उसकी उपाधि (पर्याय–अनित्य–धर्म गुण)। पर्यायों (अनित्य धर्मों) को द्रव्य से न तो सर्वथा प्रथक किया जा सकता है और न गुण–पर्यायों के समूह को ही द्रव्य कहा जा सकता है। अतः गुण और पर्याय वाले को द्रव्य कहा गया है। इस तरह यह द्रव्य (आधार विशेष) गुण और पर्यायों से सर्वथा भिन्न न होकर कथचित भिन्न व कथचित अभिन्न है।

इस तरह विश्व की रचना और उसमें वर्तमान सृष्टि तत्वों का वर्णन करके ग्रन्थ में चेतना और अचेतन पुदगल के परस्पर संयोग की अवस्था को संसार कहा गया है। जब तक चेतन के साथ अचेतन पुदगल का सम्बन्ध रहता है, तब तक वह संसारी कहलाता है। जब तक जीव संसारी अवस्था में रहता है, चाहे वह देव ही क्यों न हो, तब तक वह अपने शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से सांसारिक सुख–दुःख का भोग करता हुआ जन्म–मरण को प्राप्त करता है। वास्तव में जीव संसार में जन्म मरणजन्य नाना प्रकार के दुखों को ही

प्राप्त करता है। उसे जो क्षणिक सुखानुभूति होती है, वह भी दुख का एक रूप ही है क्योंकि संसारी व्यक्ति का वह भौतिक सुख कुछ क्षण के बाद ही नष्ट हो जाने वाला है।

अतः बौद्ध दर्शन की तरह प्राकृत ग्रन्थ में भी संसार को दुखों से पूर्ण बतलाया गया है। इस दुःख का कारण है व्यक्ति के द्वारा (अज्ञानवश) रागादि के वशीभूत होकर किया गया शुभाशुभ कर्म।[5] यदपि ये कर्म अचेतन हैं, फिर भी सजग प्रहरी की तरह ये प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया का अध्ययन सा करते रहते हैं और समय आने पर उसका शुभाशुभ फल भी देते हैं। ये कर्म वेदान्त दर्शन में स्वीकृत स्थूल शरीर के भीतर वर्तमान सूक्ष्म शरीर स्थानापन्न हैं, जो स्थूल शरीर की प्राप्ति में कारण बनते हैं। कुछ अचेतन पुदगल रूपी द्रव्य ही कर्म का रूप धारण करके यन्त्रवत कार्य करते रहते है। इन कर्म पुदगलों (कार्मणवर्गणा) का जीव के साथ सम्बन्ध कराने में लेश्याएं कारण बनती है। लेश्याएं जीव के रागादिरूप परिणाम हैं। इस कर्म और लेश्या विषयक वर्णन के द्वारा ग्रन्थ में संसार के सुखों एवं दुःखों का स्पष्टीकरण किया गया है। इस तरह संसार के वैचित्र्य की गुत्थी को सुलझाने के लिए किसी ईश्वर आदि नियन्ता की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। यदपि इन कर्मों का फल भोगे बिना कोई भी जीव बच नहीं सकता है, फिर भी यदि जीव चाहे तो उपायपूर्वक पूर्वबद्ध कर्मों को शीघ्र ही बलात नष्ट कर सकता है और आगामी काल में कर्मों के बन्धन को रोक सकता है।

कर्मों का बन्धन न होने देने के लिए ग्रन्थ मे जिस उपाय को बतलाया गया है, वह जैनदर्शन में 'रत्नत्रय' के नाम से प्रसिद्ध है। जिनेन्द्रदेव प्रणीत 9 तथ्यों मे दृढ़ विश्वास (सत्–दृष्टि) उन तथ्यों का सच्चा ज्ञान और तदनुसार सदाचार में प्रवृत्ति ये तीन रत्नत्रय हैं, जो सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यकचरित के नाम से प्रसिद्ध हैं।

भगवदगीता का भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग का सम्यक समुच्चय ही यहां रत्नत्रयरूप है।[6] इन तीनों की पूर्णता होने पर साधक कर्मों से पूर्ण छुटकारा प्राप्त करके संसार से मुक्त हो जाता है। इन तीनों की पूर्णता क्रमशः होती है। इनमें आपस में कार्य–कारण सम्बन्ध भी है। तथ्यों में श्रद्धा होने पर ही उनका सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। सच्चा ज्ञान होने पर ही सदाचार में प्रवृत्ति सम्भव है। यद्यपि कर्मों के बन्धन का कारण अज्ञान होने से उनसे मुक्ति का उपाय भी ज्ञान होना चाहिए था परन्तु सदाचार की पूर्णता होने पर मुक्ति स्वीकार की गई है और उसका कारण है, पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना।

अतएव पूर्ण ज्ञान (केवल ज्ञान) हो जाने पर जीव को जीवन्मुक्त माना गया है। सदाचार पर विशेष जोर देने का दूसरा भी कारण था। लोगों में फैले हुए दुराचार का शमन करना–यह दूसरा कारण था। सदाचार की पूर्णता अंहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (धनादि–संग्रह की प्रवृत्ति का त्याग) रूप पांच नैतिक व्रतों का पालन करने से होती है। इन पांच नैतिक व्रतों का पालन करने के अतिरिक्त साधक को कुछ अन्य नैतिक व्रतों का भी पालन करना पड़ता है, जो अहिंसादि मूल नैतिक व्रतों के ही पोषक है। इन अंहिसादि पांच व्रतों के भी मूल में अंहिसा है और उस अहिंसा की पूर्णता अपरिग्रह की भावना पर निर्भर है। सदाचार के उत्रोत्तर विकासक्रम के आधार पर चारित्र को सामायिक आदि पांच भागों में विभक्त किया गया है। सदाचार का पालन करने वाले ग्रहस्थ और साधु होते हैं। अतः उनकी अपेक्षा से सदाचार को दो भागों में भी विभक्त किया गया है गृहस्थाचार और साध्वाचार।

गृहस्थाचार साध्वाचार की प्रारम्भिक अभ्यासावस्था हैं। इसमें गृहस्थ गार्हस्थ जीवन यापन करते हुए स्थूलरूप से अहिंसादि पांच नैतिक व्रतों का यथासम्भव पालन करता है तथा धीरे–धीरे आत्मविकास करते हुए साधु के आचार की ओर अग्रसर होता है। अतः ग्रहस्थाचार पालन करने का उपदेश उन्हें ही दिया गया है जो साध्याचार पालन करने में असमर्थ हैं। ग्रहस्थाचार के संबंध में यहां एक बात विशेष दृष्टव्य है कि ग्रन्थ में ग्रहस्थाचार पालन करने वाले को दैवत्व के साथ मुक्तिपद का भी अधिकारी बतलाया गया है, जबकि वह न तो पूर्ण वीतरागी ही है और न पांच नैतिक व्रतों का सूक्ष्म रूप से पालन ही करता है। इसका कारण है, बाह्य–शुद्धि की अपेक्षा आभ्यन्तरिक शुद्धि पर जोर। इसका तात्पर्य यह है कि आभ्यन्तरिक

शुद्धि रूप वीतरागता जैसे और जहां भी सम्भव हो, वैसे ही वहां आत्म–विकास करते हुए उसे साधना है क्योंकि ब्राह्मलिंगादि तो मात्र ब्राह्मरूप के परिचायक हैं, कार्य साधक नहीं। अतः गृहस्थ होकर भी व्यक्ति आभ्यन्तरिक शुद्धि की अपेक्षा कुछ काल के लिए पूर्ण वीतरागी भी हो सकता है। वास्तव में ऐसा व्यक्ति गृहस्थ होकर भी वीतरागी साधु ही है क्योंकि वीतरागता में ही साधुता है।

वीतरागता, आत्मविकास और ज्ञानादि की साधना गृहस्थजीवन की अपेक्षा गृहत्यागी साधुजीवन में अधिक संभव है क्योंकि साधु सांसारिक मोह–ममता आदि से बहुत दूर रहता है। अतः ग्रन्थ से बहुत दूर रहता है। अतः ग्रन्थ में एक समय में मुक्त होने वाले जीवों की संगणना के प्रसंग में साधुओं की अपेक्षा ग्रहस्थों में तथा पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियों में वीतरागता आदि की योग्यता कम होने से साधु व पुरूष की अपेक्षा गृहस्थ तथा स्त्री की संख्या कम बतलाई गई है।

इस तरह आत्मविकास करते हुय मुक्ति का साधक गृहस्थ कर्म की चरमावस्था में पहुंचकर जब सूक्ष्मरूप से अंहिसादि व्रतों का पालन करने लगता है तो वह साध्वाचार में प्रवेश करता है। इसके बाद वह ज्ञान और चरित्र की ओर अधिक उन्नति के लिये माता पिता आदि से आज्ञा लेकर व सभी प्रकार के पारिवारिक स्नेह बन्धनों को तोड़कर किसी गुरू से या गुरू के न मिलने पर स्वयं साधु धर्म को अंगीकार कर लेता है। इस समय उसे अपने सभी वस्त्राभूषणों के साथ शिर और दाढ़ी के बालों को भी उखाड़कर त्याग करना पड़ता है। इसके बाद वह नियमानुकूल भिक्षा के द्वारा प्राप्त वस्त्र और आहार आदि का उपभोग करता हुआ एकान्त में आत्मचित करता है। भिक्षात्र के द्वारा जीवन यापन करने के कारण साधु को भिक्षु कहा गया है। इस भिक्षात्र आदि की प्राप्ति के विषय मे बहुत ही कठोर नियम हैं, जिनके मूल में अहिंसा आदि पांच नैतिक महाव्रतों की रक्षा की भावना निहित है। साधु जो भी नियम या उपनियम ग्रहण करता है, उन सबका साक्षात या परम्परया फल कर्म निर्जरा व मुक्ति बतलाया गया है। इतना विशेष है कि किसी भी एक नियम का पालन करने पर अन्य सभी नियमों का भी पालन करना आवश्यक हो जाता है। साधु जिन अहिंसावादी पांच नैतिक व्रतों का सूक्ष्मरूप से पालन करता है। उनके भी मूल में अहिंसा व अपरिग्रह की भावना निहित है क्योंकि अंहिसा का अर्थ है मन–वचन–काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से किसी को जरा भी कष्ट न देना।

असत्य–भाषण, चोरी, स्त्री सेवन और धनादि संग्रह में स्वाभाविक है कि किसी न किसी रूप में हिंसा का दोष लगे। सत्यादि व्रतों के लक्षण में भी अंहिसा की भावना को ध्यान में रखा गया है। इस अंहिसा की पूर्णता अपरिग्रह (वीतरागता) की भावना पर निर्भर है क्योंकि सभी शुभाशुभ प्रवृत्तियों का कारण राग है। राग के वशीभूत होकर ही जीव धनादि संग्रह और हिंसादि में प्रवृत होता है। अतः साधु को अपनी अशुभात्मक प्रवृत्ति को रोकने के लिए गुत्तियों का और शुभ व्यापार में सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति के लिए समितियों का उपदेश दिया गया है। इस तरह इन पांच नैतिक व्रतों की रक्षा करते हुए आचरण करना ही साधु का सदाचार है।

इस तरह यदपि साधु का सदाचार पूर्ण हो जाता है परन्तु सैकड़ों भवों से संचित पूर्वबद्ध कर्मांक को नष्ट करने के लिए एक विशेष कर्तव्य कर्म करना पड़ता हैं जिसका नाम है तप। तप कर्मों को नष्ट करने के लिए एक प्रकार की अग्नि है। यह साधु के सामान्य सदाचार से प्रथक नही है क्योंकि तप में जिन बाह्य और आभ्यान्तरिक क्रियाओं का पालन करना बतलाया गया है, साधु उन सभी क्रियाओं का प्रायः प्रतिदिन पालन करता है। अतः उन सभी नियमों के पालन करने में दृढ़ आत्म संयम बरतना ही तप है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप मुख्यतः दो प्रकार का है। दोनों में प्रधानता आभ्यान्तर तप की है। आभ्यन्तर तपों में ज्ञान की प्राप्ति के लिए मुख्य रूप से आत्म चिन्तन किया जाता है। तप करते समय जितनी भी क्षुधा, तृषा आदि संबंधी बाधाएं (परीष्ह) आती हैं। उन सब पर विजय प्राप्त करना आवश्यक होता है और वीर योद्धा की तरह आयु के अंतिम क्षण तक संयम में अडिग रहना पड़ता है। तप साधु के सदाचार की परीक्षा के लिये कसौटी रूप है। साध्वाचार पालन करने की दुष्करता का जो प्रतिपादन किया गया है, वह इसी तप की अपेक्षा से किया गया हे। प्रकृत ग्रन्थ में वर्णित तप का स्वरूप विशेषकर ध्यान और तप

योग–दर्शन और बौद्ध–दर्शन मे वर्णित समाधि से मिलता जुलता है। इस तरह साधु जीवन पर्यन्त तपोमय जीवन यापन करते हुए मृत्यु समय सब प्रकार के आहारादि का त्याग करके समाधिमरण पूर्वक शरीर का त्याग करता है। इस प्रकार शरीर त्याग के बाद साधक को मुक्ति प्राप्त हो जाती है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार की जाति, आयु, स्थान आदि का महत्व नहीं है, वह सदा सर्वदा सबके लिए खुला द्वार है। इतना अवश्य है कि सभी जीव अपने पुरूषार्थ से ही मुक्त हुए है। उत्तराध्ययन सूत्र में तत्व जिज्ञासु एवं मुमुक्षु के लिए मुक्ति के पथ का वर्णन तो मिलता ही है समाज और संस्कृति से संबंधित महत्वपूर्ण बातों की जानकारी भी मिलती है। जैसे कर्मणा, वर्णाश्रम व्यवस्था, जातिवाद की स्थापना, यज्ञों का प्रावधान, काम–भोग की ओर बढ़ती हुई मानव की सामान्य प्रवृत्तियां, राज्य व्यवस्था, समुद्र–यात्रा एवं अन्य आर्थिक व्यवस्था आदि। इस प्रकार धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त साहित्य, इतिहास, भूगोल, भाषा विज्ञान और तत्कालीन भारतीय समाज की अपेक्षा से यह ग्रंथ बहुत महत्वपूर्ण है और इसीलिए इस पर विपुल व्याख्यात्मक साहित्य बार–बार लिखा जाता रहा है।

संदर्भ ग्रंथ

1.जैन, सुदर्शनलाल उत्तराध्ययन सूत्र–एक परिशीलन, 1970, सोहन लाल जैन धर्म प्रचारक समिति अमृतसर पेज संख्या 17–18
2.उत्तराध्ययन सूत्र (साध्वी चन्दना) पेज 9
3.जैन, सुदर्शनलाल, वही, पेज संख्या 47: दशवैकालिक भी उत्तराध्ययन की तरह आचार्य धर्म का प्रतिपादक धार्मिक श्रमण काव्य है इसमें विनयनीति और सुभाषितों की अधिकता है कुछ गाथायें उत्तराध्ययन और आचारांग से समानता रखती हैं।
4.चन्दना, वही, पेज 428–444
5.धम्मपद : गाथा और कथा, 'द कारपोरेट बॉडी आफ बुद्ध एजुकेशनल फांउडेशन, संस्कारक हृषिकेश शरण, 2013 : दृष्टव्य चित्तवग्गो 33–43।
6.श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर : श्रीमद्भगवद्गीता, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, मुम्बई, द्वितीय हिन्दी संस्करण।
7.बरूशेलो, जी, वेस्टर्न फिलॉस्फी एण्ड द लाइफ ग्राउंड, फिलॉस्फी एण्ड वर्ल्ड प्रोबलम्स–वाल्यूम–3, इ.ओ.एल.एस.एस.नेट। (eolss.net)
8.स्मिथ, कैन्डल ए, लुइस पास्टर, द फादर ऑफ इम्यूनोलॉजी, फ्रेन्टीयर्स ऑफ इम्यूनोलॉजी, आनलाइन प्रकाशित 4 मार्च 2012, 10.3389/fimmu.2012.00068